## समकालीन हिंदी कहानी में चित्रित विघटनशील समय

*-डॉ. शुभम् मोंगा*

**प्रस्तावना:** आज के इस उपभोक्तावादी व बाजारवादी समय में हम सभी अपनी अस्मिता की पहचान व उसकी रक्षा के लिए संघर्ष कर रहे हैं। हमारा यह संघर्ष भूतकाल की दुखद स्मृतियों से व वर्तमान समय में फैली विसंगतियों से रूबरू होता ही है, साथ ही हमारे अंतःकरण पर भी एक गहरा प्रभाव छोड़ता है जो कि आज के समय में पसरी सभी विद्रूपताओं के चलते क्रमश: असंवेदनशील, उग्र और उन्मादी होता जा रहा है। व्यक्ति का असंवेदनशील होते चले जाना एक क्षणिक प्रक्रिया नहीं है, इसके लिए तमाम प्रायोजित षडयंत्र रचे गए हैं। सत्ता जहाँ केंद्र में अपने वर्चस्व को पुनर्स्थापित करना चाहती है तो वह अपने आसपास ऐसे मूक-बधिर लोगों की भी एक फौज तैयार करती चलती है, जो कुछ भी न सुन पाए व बोल पाने में असक्षम हो; परंतु हाँ... जो भी सत्ता चाहे वो केवल वही सुने और बोले भी, मानो कि वे उनके गुलाम हो! वह अपने इन्ही मंतव्यों की पूर्ति के लिए समाज मे यथास्थितिवादी ताकतों का प्रसार करती है, जिससे ऊपरी तौर पर तो यह दिखे कि वह परिवर्तन के लिए उद्यत है,परन्तु अपने आंतरिक रूप में वह अपनी तानाशाही को बनाए रखने का ही प्रयास कर रही होती है।

परिवर्तनशीलता संसार का नियम है। परिवर्तन ही जड़ से चेतन होने की प्रक्रिया है।चेतना प्रतिरोध को जन्म देती है, यही कारण है कि यथास्थितिवादी ताकतें परिवर्तन के खिलाफ खड़ी रहती हैं तथा वे परिस्थितियों को जो का त्यों बनाए रखना चाहती हैं। सबल वर्ग समाज के एक तबके को हाशिए पर डाल कर उसे निष्प्रभावी बना देता है तथा निरंतर उनका शोषण करता रहता है। जड़ता यथास्थितिवाद को पोषित करती है अतः परिवर्तन के लिए आवश्यक है कि यथास्थितिवाद के खिलाफ एकजुट होकर संघर्ष किया जाए। हाशिए की अस्मिताएँ वह होती हैं, जिन्हें समाज की मुख्यधारा से निकालकर किनारे पर रख दिया जाता है। इन अस्मिताओं को एक व्यवस्थाबद्ध व सोची समझी साजिश के तहत इतिहास के पन्नों, संसाधनों के समान वितरण, प्रतिष्ठित क्षेत्रों में महत्वपूर्ण संस्थाओं से

बेदखल कर दिया जाता है। इन्हें एक सम्मानपूर्ण जीवन जीने के अधिकार की कल्पना तो दूर मनुष्य होने के अधिकार से वंचित रखा गया है। इन्हें प्रकृति से प्राप्त सुविधाओं को भी दूर किया जा रहा है। हाशिए की अस्मिताओं में प्रमुख रूप से दलित, स्त्री, किसान, मजदूर के साथ अल्पसंख्यक, आदिवासी, घुमंतू जाति या या किसी विचित्र रोग से ग्रसित लोग आदि शामिल हैं।

बदलते समय के साथ साथ जैसे-जैसे चेतना का विकास हुआ,इन समुदायों ने भी अपनी चिरस्थाई चुप्पी को तोड़ने की कोशिश की है।समय-समय पर इन्होंने अपने शोषण के खिलाफ (वह चाहे वर्ण, आयु, जाति किसी भी आधार पर किया गया हो)अपनी आवाज बुलंद की है। अपने अधिकारों की मांग की है।अपने आप को पहचानने की कोशिश की है। वर्तमान साहित्य में स्त्री-विमर्श, दलित व आदिवासी विमर्श लगभग पिछले तीन दशकों से तेजी से उभरे हैं तथा हिंदी साहित्य में अपना विशेष जगह बनाते हुए, उन्होंने साहित्य के नए मानक निर्मित किए हैं। "समाज को बदलने की कोई भी सार्थक यात्रा खुद से आरंभ होती है। यह आरम्भ में ही समझ लेना हितकारी होगा कि भारतीय समाज की बनावट ऐसी है कि यहाँ ने धक्कामार ब्राह्मणवाद चल सकता है और न धक्कामार गैर-ब्राह्मणवाद।किसी भी धार्मिक सांस्कृतिक और भाषाई अल्पसंख्यक के विरुद्ध सतत् घृणा के आधार पर कोई दूरगामी रणनीति भारत में संभव नहीं है। यह अल्पसंख्या चाहे मुसलमानों, ईसाइयों की हो, चाहे ब्राह्मणों की।"[1]

उत्तर आधुनिकता का ढिंढोरा पीटते वर्तमान युग में एक तरफ तो सभी की स्वतंत्रता और समानता की बातें की जाती है, तो वहीं दूसरी तरफ चिरकाल से होते आ रहे पीढ़ी दर पीढ़ी शोषण को समाज एक का एक तबका ईश्वरीय न्याय मानकर चुप रहकर केवल सुनने का आदी हो चुका था लेकिन अब वह धीरे-धीरे वस अपनी स्थिति का मूल्यांकन करते हुए, अपनी अस्मिता की खोज में प्रतिरोध की जरूरत समझ रहा है। अपने निवास, संस्कृति, प्राकृतिक जीवन से उखाड़ा जाता जनजातीय समुदाय आज इतना भयभीत है कि उसे नक्सलवाद के रूप में अपनी पहचान बनाने के लिए मजबूर होना पड़ रहा है। इनका मानना है कि- प्राकृतिक आपदा से तो हम लड़ लेंगे लेकिन सत्ता द्वारा बनाई गई आपदा का क्या करेंगे? वंदना राग अपनी कहानी "हिजरत से पहले" में आदिवासी लोगों की समस्याओं के प्रतिरोध को प्रकट

करती है कि कैसे जनजातीय जीवन का आधार प्राकृतिक संसाधनों का विकास के नाम पर तेजी से दोहन किया जा रहा है। ये लोग प्रकृति की पूजा करते हैं और उसी में अपने भगवान का प्रतिबिंब देखते हैं और उसकी रक्षा के लिए अपनी जान तक दांव पर लगा देते हैं- "पेड़ों के आसपास हम लोगों के बड़ादेव हैं। कोई भी गलत काम वहाँ नहीं होना चाहिए। जंगल की रक्षा हमारा धर्म है वरना बड़ादेव नाराज हो जाएंगे।"[2]

कहानी में आदिवासी समुदाय सरकार की नीतियों के खिलाफ लामबंद होते हैं,यही कारण है कि जब उन्हें अपना प्रतिरोध बेअसर होता दिखाई देता है तो भी राजधानी से आने वाले बड़े अफसरों की गाड़ियों को उड़ाने की योजना बनाते हैं। प्राचीन काल से हाशिए पर रहा किन्नर समुदाय भी आज के समाज से बहिष्कृत समझा जाता है तथा नाच-गाकर वह माँग कर अपना पेट भरते हुए,अपने अन्य अपराधों का दंड भुगतने के लिए मजबूर है। आज के युग में विडंबना है कि वह हाशियाग्रस्त अस्मिताएँ अपनी पहचान बनाए रखने की संकट से जूझ रही हैं।

कहानीकार किरण सिंह की कहानी "संझा" में दिखाया गया है कि किस प्रकार एक विशेष अंग से रहित बालक, अपने माता-पिता के लिए सामाजिक भय और शर्म का कारण माना जाता है। पंडित जी के घर जन्मी संझा को अपने ही घर के अंदर बंदी बनाकर रखते हैं। उसे दूसरे बच्चों से दूर रखा जाता है। वह बार-बार अपने पिता से सवाल करती है। वह कहती है "मैं बाहर निकलना चाहती हूँ-बाऊदि।मैं औषधि की पत्तियाँ छूना चाहती हूँ।बहता पानी...गीली मिट्टी... जंगल आसमान देखना चाहती हूँ। बाऊदि! मैं दौड़ना चाहती हूँ।खूब जोर से हँसना चाहती हूँ।सबके जैसे जीना चाहती हूँ। आपके कहने से मैं ऐसे रह तो जाऊँगी लेकिन दो-चार दिन की ही रह जाऊँगी।बाऊदि।"[3]

भले ही हम 21वीं सदी में प्रवेश कर चुके हैं लेकिन हमारी मानसिकता आज भी बीमार असाध्य रोग से ग्रसित है। किरण सिंह कहती है "मामा अपने घर के दरवाजे पर खड़े होकर... जुगल किशोर,उनके पौरुष पर ऐसा कलंक है, जो दिन रात उसकी आँख के आगे नाचता रहता है। जुगल भैया अपना उभरा सीना छुपाने के लिए झुकते चले गए।"[4] लेकिन संझा अपनी वास्तविकता को दूर रख कर एक नई कहानी रचना चाहती है और बहुत हद तक वह इसमें सफल भी होती है उसके पिता

जब उसे कहते हैं कि तुम वंश नहीं बढ़ा सकती तो वह प्रतिक्रया में कहती है "गाँव में ऊसर औरतें भी तो हैं, मान से रहती हैं अर्थात् वह अपने आप को किसी भी कारण से किसी से भी कम नहीं समझती और अपनी सूझबूझ और अपने कार्यों के दम पर अपने महत्व पर प्रतिष्ठित भी कर देती है। नपुंसक होने की सच्चाई जब उसके सामने आती है तो वह पूरे गाँव का डटकर मुकाबला करते हुए कहती है "न मैं तुम्हारे जैसी मर्द हूँ। न मैं तुम्हारे जैसी औरत हूँ।मैं वह हूँ जिसमें पुरुष का पौरुष है और औरत का औरतपन। तुम मुझे मारना तो दूर,अब मुझे छू भी नहीं सकते क्योंकि मैं एक जरूरत बन चुकी हूँ,सारे गांव की ही नहीं आसपास के शहर तक एक मैं हूँ जो तुम्हारी जिंदगी को बचा सकती हूँ। अपनी औषधियों में अमृत का सिफत मैंने तप करके हासिल किया है।मैं जहाँ जाऊँगी मेरी इज्जत होगी। तुम लोग अपना सोचो। तो मैं चैगांव से निकलूँ या तुम लोग मुझे खुद बाउदी की गद्दी तक ले चलोगे।"[5]

समाज में इन लोगों को उस अपराध की सजा दी जाती है जो इन्होंने किया ही नहीं होता क्योंकि किसी की शारीरिक संरचना में किसी का कोई दोष नहीं हो सकता। ऐसे ही दर्द को बयान करती अखिलेश की "अंधेरा" संकलन में "ग्रहण" कहानी है,जिसमें विपद व बटुली का लड़के राजकुमार को जन्मजात गुदाद्वार ना होने के कारण पेटहगना नाम से संबोधित किया जाता है। वह बार-बार हर जगह प्रताड़ित होता है एक तो दलित वर्ग से संबंधित ऊपर से ऐसे अनसुने में रोग से ग्रसित राजकुमार दोहरे शोषण को भोग रहा है। जब विपद उसे स्कूल में पढ़ने भेजता है तो शिक्षक राजकुमार पर गर्जता है "साले एक तो तू कुजात उस पर से पेट हजना, चार अक्षर पढ़ लेगा तो किसी ठीहे लग जाएगा। रिजर्वेशन तो तुम हरामियों के लिए है ही।"[6]

पढ़ते समय कक्षा में राजकुमार के साथ बुरा व्यवहार की तो किया ही जाता है व इसके साथ अन्य स्थानों पर बार-बार उसे स्वर्ण समाज की हिंसा का सामना करना पड़ता है। जब वह पानी पीने के लिए चांपाकल चला कर पानी पीने की कोशिश करता है तो गुरुजी पीछे लात मार देते हैं जिससे उसके मुँह से खून बहने लगता है। गुरु कहते हैं-"इसलिए मैंने मारा कि कहीं इस पेट हगना की टट्टी चंपाकाल को अपवित्र ना कर दे।"[7]

हाशियाग्रस्त अस्मिताओं के साथ किया गया यह व्यवहार ही एक दिन इन शोषितों में क्रोध की अग्नि भड़काकर प्रतिरोध को जन्म देता है। गुस्साया राजकुमार भी अपने अपमान का बदला लेने के लिए पुरोहित के लड़के मुन्ना को मारकर अपनी मृत्यु का प्रपंच रहता है। ऐसे ही पात्र को सत्यनारायण पटेल अपनी कहानी में प्रकट करते हैं जो सवर्ण तो है लेकिन अपनी धब्बों वाली शारीरिक बीमारी के कारण सवर्ण समाज से बहिष्कृत है, साथ ही उसके वास्तविक नाम को बुलाकर उसका नाम कबरया रख दिया जाता है। उसे अपने गाँव से निकाल दिया जाता है और अपने समाज के लोगों द्वारा बहिष्कृत व प्रताड़ित किया जाता है।

वह गाँव के कांकर पर बसे दलितों के साथ रहते हुए सवर्णो के खिलाफ अपनी अस्मिता की लड़ाई का बिगुल बजा देता है व अपने साथ हुए दुर्व्यवहार के कारण वे दलितों के दर्द को समझ पाता है। दबंग जातियों की एकता हाशियाग्रस्त अस्मिताओं के प्रतिरोध को कुचलने हुए, उन्हें हाशिए से मुख्यधारा की तरफ बढ़ने से रोकने का हर संभव प्रयास करती है।

कहा जाता है कि जिस प्रकार साहित्य समाज का दर्पण होता है, उसी प्रकार स्त्री भी समाज का प्रतिबिंब होती है। अगर किसी देश, समाज या राष्ट्र की तरक्की को नापना है तो उसकी अर्थव्यवस्था की स्थिति मत देखिए बल्कि वहाँ की स्त्री की स्थिति का अध्ययन कीजिए और बहुत हद तक यह विचार वर्तमान मानदंडों को भी पूरा कर रहा है। वर्तमान युग प्रगति के पथ पर जितना अधिक आगे निकलता जा रहा है स्त्री को उतना ही अधिक हाशिए पर धकेला जा रहा है।जिस समाज में पुरूष व स्त्री दोनों के समान मानव-श्रृंखला में होते हुए भी दोनों के लिए अलग-अलग मानदंड बनाए गए हो वह समाज कैसे प्रगति कर सकता है? जिस समाज में एक स्त्री को केवल एक "देह" के रूप में वस्तु, उत्पाद, घर की शोभा, पति के वैभव की प्रदर्शनी के रूप में देखा जाता है तो वहाँसमानता की विचारधारा निरर्थक ही प्रतीत होती दिखाई देती है। कहने को तो आज की स्त्री पुरुष कंधे से कंधा मिलाकर काम कर रही हैं। जीवन की हर क्षेत्र में उसकी बराबर की भागीदारी है।अंतरिक्ष को वे अपने कदमों से नाप रही है। वे देश की अर्थव्यवस्था ही नहीं बल्कि पूरे देश व राष्ट्र को शासित कर रही हैं, लेकिन जब हम वास्तविकता देखते हैं तो आज भी हमारी संसद में महिलाओं की उपस्थिति मात्र 14% है जबकि जनसंख्या की दृष्टि में वह

कुल जनसंख्या का लगभग 50% है और जहाँ तक आज वह पहुँची है, उसके पीछे भी पितृसत्तात्मक व्यवस्था का एक अनदेखा षड्यंत्र काम कर रहा है, जिसे भेदने की कोशिश में स्त्री स्वयं उस षड्यंत्र का हिस्सा बनती जा रही है।

**बाज़ार के बीच स्त्री:**

स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता की तलाश में निकली स्त्री आज कहाँ से कहाँ पहुँच गई है,इसका अंदाजा उसकी वर्तमान स्थिति को देखते हुए लगाया जा सकता है। नब्बे के दशक के प्रारंभ में आई भूमंडलीकरण, उदारीकरण और वैश्वीकरण की अवधारणा से उत्पन्न बाजार में वर्तमान स्त्री को आवश्यकता से अधिक प्रभावित करते हुए एक नए रूप में अवतरित किया है। बाजारवाद की चकाचौंध ने स्त्री को रंगीन सुहावने सपने दिखाकर उसे अपनी अस्मिता को भूल कर वास्तविकता से दूर एक उत्पाद बना दिया है। बाजार का मुख्य मकसद है कंपनियों के उत्पादों को आम आदमी तक पहुँचाना और इसके लिए सुंदर है प्रतियोगिताओं का आयोजन किया जाता है और उस के माध्यम से दुनिया के सामने जाना माना चेहरा लाया जाता है।विज्ञापनों के लिए इन जाने-माने चेहरों का इस्तेमाल करके बाजार को लोगों तक पहुँचाया जाता है।अरविंद जैन अपनी पुस्तक "औरत होने की सजा" में लिखते हैं "बहुराष्ट्रीय कंपनियों को अपने ब्रांड बेचने के लिए निश्चित रूप से भारतीय मॉडल ही चुनने पड़ेंगे।विश्व सुंदरियाँ भारतीय ग्राहकों को अपना माल आसानी से नहीं बेच पाएंगी इसलिए जरूरी है कि भारतीय सुंदरियों को पहले ब्रह्मांड सुंदरी और विश्व सुंदरी का ताज पहना कर घर-घर में जाना पहचाना नाम और चेहरा बनाया जाए और फिर अपने ब्रांड को बेचने के लिए भेजा जाए यही सुंदरियाँ किसी भी पोज में माल बेचने को मजबूर होंगी क्योंकि पहले ही बहुत से अनुबंध बिना सोचे समझे साइन कर दिए गए हैं।"[8] इन चेहरों को समय-समय पर बदल दिया जाता है क्योंकि समय परिवर्तन की मांग करता है।एक चेहरा जब पुराना हो जाता है तो नए ग्लैमर के साथ दूसरा चेहरा प्रस्तुत किया जाता है। विज्ञापनों की बदौलत आज झुग्गी झोपड़ियों में रहने वाले दो वक्त की रोटी के लिए मोहताज व्यक्ति के पास भी ब्यूटी प्रोडक्ट्स सैशे के रूप में देखा जा सकता है।

वर्तमान युग में कंपनियों द्वारा अपना सामान बेचने के लिए भारतीय सुंदरियों का जितना प्रयोग किया जाता रहा है,वह बाज़ार के रूप में एक नव समाजवाद का आगमन है।घरेलू जरूरतों के सामानों से लेकर चाहे गाड़ी का विज्ञापन हो, शेविंग ब्लेड, क्रीम, जूते-चप्पल, सौन्दर्य प्रसाधन, बिजली उपकरण, यहाँ तक कि पुरुष बनियान-अंडरवियर के विज्ञापनों में भी भारतीय सुंदरियों का प्रयोग किया जाता है।विज्ञापनों में अर्धनग्न अवस्था में बहुराष्ट्रीय-कंपनियों का सामान बेचती सुंदरियाँ अपनी भाव-भंगिमा द्वारा अनायास ही या ना चाहते हुए भी बाजार की गिरफ्त में आने को मजबूर हैं। बाजार बार-बार हमारे खिड़की दरवाजों पर दस्तक देता है और यह हमारा दुर्भाग्य है कि हम ना चाहते हुए भी उसे अपने घरों में प्रवेश की अनुमति दे देते हैं। आज के युग को देखते हुए यह विचारणीय है कि आज करवा चौथ सहित अनेक नए नए व्रत व त्यौहार हमारी संस्कृति का हिस्सा क्यों बनते जा रहे हैं। वैलेंटाइन डे, रोज डे, ब्रदर डे, फादर डे, मदर डे आदि की बहार पिछले लगभग 15-29 सालों से ही क्यों बढ़ती जा रही है। आज गिफ्ट-रिटर्न गिफ्ट के बिना कोई त्यौहार क्यों नहीं मनाया जा रहा है?इन सब प्रश्न का उत्तर एक ही मिलेगा क्योंकि बाजार यह चाहता है।

आज के इस बाजारवाद के युग में सब कुछ बिकाऊ है। बाजार की इस खरीद-फरोख्त से जो सबसे अधिक प्रभावित है वह है- स्त्री। आज भले ही वह अपने अधिकारों के प्रति जागरूक दिखाई देती है लेकिन बाजार के समक्ष वह केवल उत्पाद है,एक वस्तु है। सौंदर्य के प्रति रुझान ने स्त्री सौन्दर्य को बिकाऊ माल बना दिया है। बाजार स्त्री की सुंदरता को जरिया बनाकर अपने माल की खपत करने के हजारों रास्ते तलाश कर रहा है। बाजार स्त्री को आर्थिक समृद्धि व आत्म निर्भरता का सपना दिखाकर,उसे देह के रूप में प्रस्तुत कर उसका शोषण कर रहा है और स्त्री इस षडयंत्र को समझे बिना बाजार द्वारा इस बनाए हुए जाल में उलझती ही जा रही है।गीताश्री की "आवाजों के पीछे-पीछे" कहानी की नायिका "निशा" को जब एक लिफाफा गार्ड द्वारा थमाया जाता है, जिस पर लिखा था "हस्बैंड ऑन रेंट"तो वह असमंजस में पड़ जाती है कि वह यह काम करें या ना करें। आर्थिक हालात निशा को अपनी सुरीली आवाज को बेचने के लिए लालायित कर रहे हैं। गीताश्री लिखती हैं "जब उसने लिफाफे के अंदर लिफाफा देखा तो और चौक गई। यह क्या

मायाजाल है भाई। ऊपर-ऊपर कितनी राहते और अंदर लिफाफे मे जिंदगी का तिलिस्म जिसमें घूमने पर कम जोखिम और ज्यादा पैसा दिखाई पड़ रहा है। वह लिफाफा निशा को सुनहरे सपनों की दुनिया में लेकर जाता है और वह अपने भीतर के द्वंद को अनेक तर्कों द्वारा शांत करती है। अपनी कमाई! भिखारियों की तरह हाथ फैलाने से मुक्ति! छोटी-छोटी ख्वाहिशें पूरी कर सकूंगी! और बिना खर्च के काम!घर बैठे, कहीं आना ना जाना गोपनीयता की गारंटी तो है ही।इसमें क्या बुराई है, न हम खर्च होंगे, ना वह खर्च होंगे। बस एक आवाज का जाया होना है।"[9]

दूसरी तरफ ऐसा ही लिफाफा निशा के पति सुनील को मिलता है,जिसे वह निशा से छुपा कर रखता है। जब सुनील उस लिफाफे को खोलता है तो उसमें ब्लैक एंड व्हाइट दो पेपर थे, जिस पर अनेक फोन नंबरों के साथ रोमन में लिखा था- "हेलो दोस्त।मेरा नाम वसुंधरा है। मैं एक कॉल सेंटर में एजेंट हूँ। मेरा सपना है कि अपनी जिंदगी मे मुकाम हासिल करूँ। मुझे पसंद है, लोगों से उनके जीवन के बारे में जानना। अपनी जिंदगी के अनुभव के बारे में बताना। नए लोगों से मिलना और उनसे बहुत सारी बातें करना मुझे अच्छा लगता है...आपकी कॉल का इंतजार करूँगी।"[10] लिफाफे के साथ में सुंदर युवा उत्तेजक भंगिमा वाली लड़कियों की फोटो डाली गई थी।बाजार ने स्त्रियों के अपने मानसिक नियंत्रण को समाप्त कर उनकी स्वतंत्र अस्मिता व पहचान को अपनी चकाचौंध में गुम कर दिया है।

लोकतंत्र का चौथा स्तंभ कहे जाने वाला मीडिया भी बाजार के प्रकोप से अछूता नहीं रह सका है। एक तरफ मीडिया ने स्त्री अभिव्यक्ति को स्वतंत्रता के लिए एक नया मंच प्रदान किया है तो वहीं दूसरी तरफ समकालीन दौर की स्त्री मीडिया में अपने वस्तु के समान हो रहे प्रयोग से अनभिज्ञ दिखाई देती है। मीडिया में स्त्री की जो छवि उभर कर सामने आई है,वह बाजार की चालाकी का परिणाम है। वह नारी की मोहक छवि का आदि हो चुका है ताकि उस छवि को बेचकर अधिक से अधिक मुनाफा कमा सके। विज्ञापनों, फिल्म इंडस्ट्री में छोटे पर्दे की अतिरिक्त आज न्यूज़ चैनल भी यह विशेष ध्यान रखते हैं कि उनकी खबरों को प्रसारण करने वाली एंकर लोगों को कितना प्रभावित कर पाती है। उसकी छवि वर्तमान मांगे अनुसार हो। "छबीला रंगबाज शहर" कहानी अरुप और ऋषभ आपस में बहस कर रहे थे तो ऋषभ स्कूल के प्रिंसिपल के बारे में कहता है प्रिंसिपल कहते हैं "मीडिया में समस्या

नहीं अब आनंद है।आभासी यथार्थ के मायने भी मुझे बताएं और यह भी कहा कि अनुभव और स्वार्थ हस्तांतरित हो रहे हैं। यह खतरनाक दौर है।"[11]

इसी कहानी की स्त्री पात्र तन्वी अपनी सूझबूझ व मीडिया के इशारे पर चलते भुजंगनाथ के झूठे फुटेज के बल पर एक ब्रांड के रूप में बन जाती है और बरखा दत्त सम्मान से नवाजी जाती है। न्यूज़ चैनलों में एंकर की खूबसूरती के साथ-साथ उसके कपड़े वह बोलचाल के ढंग भी विशेष मायने रखते हैं। प्रवीण कुमार तन्वी एंकर के बारे में लिखते हैं "तन्वी का शरीर कुछ भर आया था। आँखों में मोटा-मोटा काजल था और आँखें चमक रही थी।चपटे गाल अब हल्की आँच में पके हुए पुए की तरह चिकने होकर फूल गए थे और लिबास में स्थनिक लुक था। यह राज्य का सबसे नामी न्यूज़ चैनल था। आखिरकार वह वहाँ पहुँच गई, जहाँ जाना चाहती थी। उसके पतले पतले होंठो से एक-एक शब्द मोतियों के समान टपक रहा था।"[12] तो सच्चाई यह है कि मीडिया वाले अपने व्यवसायिक हितों की पूर्ति के लिए व अपनी टीआरपी बढ़ाने के लिए केवल स्त्री के शरीर के प्रदर्शन पर जोर देते हैं। बहुत सारे विज्ञापनों में जहाँ स्त्री की कोई आवश्यकता नहीं होती उन विज्ञापनों में भी उन्हें एक देह के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। पैरों में पहनने वाले जूतों या कलाई पर बाँधी जाने वाली घड़ी के विज्ञापनों को प्रस्तुत करने वाली सुंदरी कम से कम कपड़ों में दिखाई जाती है, जिसका उद्देश्य केवल स्त्री-देह को परोस कर अपने माल को अधिक से अधिक खपत करना है। बाजार की इस मायाजाल ने सौंदर्य की दूसरी परिभाषा को अनावृत शरीर व देह प्रदर्शन की परिभाषा में तब्दील कर दिया गया है।

समकालीन दौर में बाजार ने स्त्री को स्त्री का प्रतिद्वंदी बना दिया है। वे एक-दूसरे से आगे निकलने की चाह में किसी भी सीमा को पार करने के लिए बेचैन है। अत्यधिक सुंदर आकर्षक व स्लीम दिखने के लिए खाने के स्थान पर सप्लीमेंट लेती है। यहाँ तक कि नशे की आदी हो चुकी है।वे अपने सौन्दर्य व आकर्षण के कारण भी मीडिया पर छाई रहती हैं और मीडिया को इनसे अपनी खुराक मिलती रहती है, लेकिन मीडिया हाथी की तरह है। उसकी खुराक बड़ी है। थोड़े में उसका पेट नहीं भरता।वह खबरों को सनसनीखेज बनाने के लिए निरंतर नया मसला ढूँढता रहता है, जिसके लिए उसकी नजरें स्त्री पर छाई रहती हैं और मीडिया को इनसे अपनी खुराक मिलती रहती है। इस बात में कोई दो राय नहीं है कि सोशल मीडिया

ने स्त्री को एक नया मंच प्रदान किया है था उसे अपने अनुभव को प्रकट करने का साहस भी दिया है लेकिन फिर भी मीडिया द्वारा स्त्री का एक वस्तु की तरह ही प्रयोग होता है।

**सन्दर्भ-**


1.पुरुषोत्तम अग्रवाल: संस्कृति वर्चस्व और प्रतिरोध, भूमिका।

2.वंदना राग: हिजरत से पहले, पृ-128

3.किरण सिह: यीशू की कीलें, पृ-179

4.वही-पृ-196

5.वही-पृ-197

6.अखिलेश: यक्षगान, पृ-111

7.वही-पृ-119

8.अरविंद जैन: औरत होने की कथा, पृ-141

9.गीता श्री: स्वप्न, साज़िश और स्त्री, पृ-107

10.वही-पृ-109

11.वही-पृ-114

12.प्रवीण कुमार: छबीला रंगबाज का शहर, पृ-63



डॉ. शुभम् मोंगा

अस्सिटेंट प्रोफेसर(हिंदी)

J. V. M. G. R. R. COLLEGE

चरखी दादरी(हरियाणा)

9996884112